सत् एवं आभास की दार्शनिक विवेचना : शंकराचार्य एवं ब्रैडले के परिप्रेक्ष्य में

प्रियान्शु अग्रवाल*

priyanshuagrawal900@gmail.com

सार -

प्रस्तावित शोध-पत्र सत् या निरपेक्ष तथा आभास या जगत संबंधित अवधारणा की शंकराचार्य एवं ब्रैडले के परिप्रेक्ष्य में दार्शनिक विवेचना है। इस शोध-पत्र का प्रमुख उद्देश्य भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिक जगत के प्रख्यात विद्वानों विशेषतः शंकराचार्य एवं ब्रैडले के सत् एवं आभास संबंधी विचारों में समाविष्ट समानताओं एवं विषमताओं का व्यापक रूप से विश्लेषण प्रस्तुत करना है। इस कारण शोध-पत्र के अंतर्गत सर्वप्रथम, यह प्रदर्शित किया गया है कि क्यों उक्त दोनों दार्शनिकों के संदर्भ में ही सत् एवं आभास की अवधारणा का विवेचन किया गया है। द्वितीयतः, शंकराचार्य एवं ब्रैडले दोनों के सत् या निरपेक्ष संबंधी विचारों की गवेषणा की गई है। तृतीयतः, उक्त दोनों दार्शनिकों के दर्शन में व्याप्त सत् एवं आभास के स्वरूप को विवेचित करते हुए समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है और तदुपरांत, अंत में उपर्युक्त सभी पक्षों का गहन मूल्यांकन करते हुए निष्कर्ष को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

मुख्य शब्द - *निरपेक्ष, सत्, ब्रह्म, अध्यास, जगत, आभास, मिथ्या, अद्वैत वेदान्त, शंकराचार्य एवं ब्रैडले।*

परिचय -

दर्शन जगत के इतिहास में अपने मौलिक विचारों और उसके दूरस्थ प्रभावों हेतु आदिगुरु शंकराचार्य एवं एफ०एच० ब्रैडले दोनों ही दार्शनिकों का अत्यंत विशिष्ट स्थान रहा है। इसी सन्दर्भ में डॉ० एस०एल०एन० श्रीवास्तव अपनी पुस्तक *Sámkara and Bradley* में अपना विचार अभिव्यक्त करते हैं कि "व्याघात के भय से मुक्त होकर यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक विचारों के इतिहास में निश्चितरूपेण शंकराचार्य एवं ब्रैडले सर्वोत्कृष्ट दार्शनिकों में से दो रहे हैं जिन्होंने दार्शनिक समस्याओं पर कृत संकल्पित होकर एवं अंत तक विचार करने का प्रयत्न किया। इसलिए उनके योगदान के प्रति जिज्ञासु मस्तिष्क वाले की शाश्वत रुचि होती है एवं जिनके विचार केवल किसी न किसी रूप में निरपेक्षवाद में ही संतुष्टता को प्राप्त कर सकते हैं, वे सदैव अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक खोज के लिए शंकराचार्य एवं ब्रैडले की ओर रुख करेंगे" (It can be said without fear of contradiction that in the history of philosophical thought, Sámkara and Bradley certainly have been two of the most outstanding philosophers who did try to think philosophical problems out, resolutely and to the end. Their contributions, therefore, have a perennial interest for the inquiring mind, and those whose thinking can find rest only in Absolutism of some form or other shall ever be turning to Sámkara and Bradley for their intellectual and spiritual quest.)।[1] इस रूप में शंकराचार्य एवं ब्रैडले दोनों निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Absolute Idealism) के प्रमुख दार्शनिक हैं। यद्यपि दोनों के दर्शन में अनेक बिन्दुओं पर

* **शोध छात्र (UGC-SRF), दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज- 211002**

भिन्नताएँ है, किन्तु कई आधारभूत बिन्दुओं में उनमें साम्यता भी उल्लेखनीय है। दोनों ही दार्शनिकों ने निरपेक्ष-अनुभूति पर विश्वास किया है जो कि अव्यवहित (Immediate) तथा असंबंधमूलक (Non-relational) है। सत् (Reality) अपने पूर्ण स्वरूप में अव्यवहित अनुभूति द्वारा ही प्रदत्त है। इसके साथ ही शंकराचार्य एवं ब्रैडले दोनों ने ही इस प्रत्यक्ष जगत को आभास मात्र माना है। उन्होंने अपनी प्रख्यात कृतियों का आरम्भ आभास विवेचन से किया है, लेकिन निष्कर्षतः सत् को ही प्रतिपादित किया है। शंकराचार्य अपने *ब्रह्मसूत्र : शारीरक भाष्य* का आरम्भ अध्यास अर्थात् आभास विवेचन से करते हैं, तो ब्रैडले भी अपनी पुस्तक *Appearance and Reality* का आरम्भ आभास के विमर्श से ही करते हैं। दोनों दार्शनिकों ने सीमितता को आभास का विशिष्ट लक्षण बतलाया है, जिसे ब्रैडले ने अपूर्णता या विखंडता (Fragmentariness) की संज्ञा दी है। शंकराचार्य एवं ब्रैडले दोनों का ही निरपेक्ष पूर्ण एवं असीमित है। इस प्रकार शंकराचार्य एवं ब्रैडले के ब्रह्म अथवा निरपेक्ष संबंधी अवधारणा से भलीभाँति अवगत होने हेतु उनके विचारों का गहनतापूर्वक अध्ययन एवं विश्लेषण करना अपरिहार्य प्रतीत होता है।

शंकराचार्य एवं ब्रैडले के दर्शन में सत् या ब्रह्म की विवेचना -

शंकराचार्य एवं ब्रैडले दोनों ने ही सत् या निरपेक्ष या ब्रह्म को समस्त संबंधों से परे स्वीकार किया है, लेकिन उनकी असंबंधमूलक सत् की अवधारणा में कुछ सीमा तक भिन्नता अवश्य है। शंकराचार्य के अनुसार सत् मूलतः एक ही है जो निर्गुण, निरुपाधिक, निराकार, निर्विशेष, निर्वयव है। यही ब्रह्म हमारी आत्मा का भी सारभूत तत्व है। शंकराचार्य का तर्क है कि ब्रह्म ही सभी आभासों का आधार है। उनका विचार है कि कोई भी चीज चाहे वह निम्न हो या श्रेष्ठ, सत् से पृथक होते ही आधारहीन हो जाती है। यद्यपि जब हम ब्रैडले के दर्शन पर विचार करते हैं तो वह शंकराचार्य से कई महत्त्वपूर्ण मायनों में भिन्न प्रतीत होता है। ब्रैडले का सत् मूर्त विशेष है तथा वह आत्मा या अन्य द्रव्य के साथ उसका तादात्म्य स्थापित नहीं करता है। ब्रैडले का तर्क है कि सत् समानता एवं विषमता का मूर्त सामंजस्य (Concrete Unity) है। परन्तु समस्या यह है कि सत् या निरपेक्ष की ऐसी अवधारणा को न तो असंबंधमूलक और न ही अव्यवहित अनुभूति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। पुनः प्रश्न उठता है कि जो निरपेक्ष मूर्त विशेष है वह संबंधों से परे कैसे हो सकता है? जब तक वर्गीकरण अथवा भेद को स्वीकार किया जाता है, तब तक सत् का पारमार्थिक संबंध नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इस कारण उनके निरपेक्ष को असंबंधमूलक कहने में कठिनाई प्रतीत होती है, किन्तु ब्रैडले मानता है कि निरपेक्ष को एक सर्वसमावेशी (All-inclusive) तथा अतिसंबंधमूलक अनुभूति (Supra-relational experience) के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। ब्रैडले के शब्दों में, "लेकिन जहाँ तक इसकी (सत्) मुख्य विशेषता की बात है, तो हमें पृथक प्रत्युत्तर देना होगा। हम भावना में प्रदत्त विविधता से एकता की ओर आरम्भ करते हैं और हम इसे आत्म से परे आत्म-पूर्णता के सिद्धान्त के द्वारा आंतरिक रूप से विकसित करते हैं, जब तक हम सर्वसमावेशी एवं अतिसंबंधमूलक अनुभूति के प्रत्यय तक नहीं पहुँच जाते" (But as to its main character we must return a different reply. We start from the diversity in unity which is given in feeling, and we develop this internally by the principle of self-

completion beyond self, until we reach the idea of an all-inclusive and supra-relational experience.)।[2] यह एक पूर्ण या व्यापक एवं केंद्राभिमुखी प्रक्रम है जिसमें सभी आभास संयुक्त हो जाते हैं और ऐसा होने पर वे अपने विभेदक स्वरूप से वंचित हो जाते हैं। निरपेक्ष के मात्रात्मक दृष्टिकोण के लिए आवश्यक है कि निरपेक्ष के ज्ञान हेतु जगत के प्रत्येक आभास को जाना जाए। ब्रैडले निरपेक्ष का तादात्म्य न तो मन के साथ न ही आत्मा के साथ करता है, बल्कि वह कहता है कि यह मन के द्वारा अनुभूत होता है। इस तरह निरपेक्ष की इस मात्रात्मक अवधारणा में अवश्य ही मूल्यांकन करने की महान त्रुटि निहित है। यदि आभास एवं सत् दोनों ही परस्पराश्रित हैं, तो हमें आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि उन्हें पृथक कैसे किया जा सकता है? या दूसरे शब्दों में आभासों को उनके वास्तविक स्वरूप में अस्तित्ववान कैसे स्वीकार किया जा सकता है अर्थात् जब उन्हें परिवर्तित नहीं किया गया हो, जिससे कि वे सत् में विद्यमान रहे। इस प्रकार आभासों को अपने वास्तविक एवं मूलभूत स्वरूप में सत् में विद्यमान होना चाहिए, तब दोनों के मध्य अंतर विलीन हो जाएगा और उन्हें तादात्म्य रूप में स्वीकार किया जा सकेगा। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रैडले ने इस जटिलता को नजरअंदाज करते हुए इसका 'अविचारित सामान्यीकरण' कर दिया है। "हम एक निरपेक्ष अनुभूति का सामान्य प्रत्यय निर्मित कर सकते हैं जिसमें संवृत्तिमूलक अंतर विलीन हो जाते हैं, बिना किसी सुस्पष्टता को खोए एक उच्च स्तर पर पूर्ण अव्यवहित हो जाता है" (We can form the general idea of an absolute experience in which phenomenal distinctions are merged, a whole become immediate at a higher stage without losing any richness.)।[3]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्रैडले का निरपेक्ष कोई नवीन सत्ता नहीं है जो कि अनुभवातीत है, अपितु यह एक सुसंगत पूर्णता है जिसमें जगत के सामान्य तथ्य (हालाँकि परिवर्तित रूप में) निहित हैं। अतएव उन्हें स्पष्ट ढंग से समझने हेतु हमें प्रत्येक विषय या वस्तु को स्वयं उसकी परिधि में देखना होगा। यदि जगत की समस्त वस्तुओं को पृथक-पृथक ग्रहण किया जाये, तो वे सभी पूर्ण या निरपेक्ष से ही पृथक एक खण्ड या अंश मात्र है। इस प्रकार आभासित सत् का प्रत्येक अंश निरपेक्ष का ही एक अंश होने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, जिसमें वह अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। यद्यपि ब्रैडले की निरपेक्ष संबंधी अवधारणा का विश्लेषण करने पर उसके स्वरूप में भिन्न-भिन्न विशिष्टताएं परिलक्षित होती हैं जो कि निम्नलिखित हैं-

i) सत् अनुभूति का स्वरूप मात्र है। ब्रैडले का विचार है कि यदि जो कुछ भी अनुभूति का अंग नहीं है, तो वह अनुपयोगी एवं निरर्थक है। इसीलिए सत् को अनुभूति के स्वरूप में निहित होना चाहिए।

ii) सत् आत्मव्याघात से परे है और यह आत्मनिर्भर है। इसी कारण ब्रैडले इसे वैयक्तिक कहते हैं।

iii) सत् एक सुसंगत पूर्णता (Harmonious whole) है जिसमें सभी आभास परिवर्तित रूप में विलीन हो जाते हैं।

उक्त विश्लेषण से बोधित होता है कि ये विशेषताएं परस्पर विरोधाभासी हैं और इसीलिए तीनों को एक साथ सत्य नहीं स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि यदि हम इन तीनों विशेषताओं का अधिक गहनता से विश्लेषण करें, तो यह ज्ञात हो सकता है कि ये विशेषताएं सत् की अवधारणा पर कहाँ तक प्रयुक्त होती हैं।

सर्वप्रथम, अनुभूति के रूप में सत् की परिभाषा स्वाभाविक रूप से प्रश्न उत्पन्न करती है कि ब्रैडले का अनुभूति से क्या तात्पर्य है? अनुभूति का आकार एवं विषय-वस्तु क्या है? यदि अनुभूति का तात्पर्य यह है कि जो हमें दैनिक जीवन में प्राप्त होती है, तो परमार्थ या निरपेक्ष एवं संवृत्ति या सापेक्ष के मध्य कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। यदि हम इसे एक नवीन प्रकार की अनुभूति कहकर संबोधित करें, तब भी हमारी समस्या का समाधान नहीं होगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में एक अन्य समस्या जन्म लेगी कि हम एक ऐसी नवीन अनुभूति का विचार कैसे कर सकते हैं जो अभी तक हमारे संज्ञान में नहीं आयी है। इसके अलावा, इस स्पष्टीकरण के बाद भी इस नवीन अनुभूति के आकार एवं विषय-वस्तु की समस्या बनी रहती है। पुनश्च, हमें निरपेक्ष को एक नवीन अनुभूति के रूप में ग्रहण करने हेतु अपनी ओर से उस अनुभूति के प्रति समझ की आवश्यकता पड़ेगी। परन्तु इस प्रकार की समझ हमें विचार करने को प्रेरित करेगी। जैसा कि हम जानते हैं कि ब्रैडले ने असंबंधमूलक सत् के स्वरूप को समझने के लिए विचार की क्षमता को स्पष्टरूपेण अस्वीकार किया है, क्योंकि विचार सदैव नियमों एवं संबंधों के अनुरूप होता है, जबकि परमार्थ संबंधातीत है। इस प्रकार सत् की एक नवीन अनुभूति के रूप में व्याख्या हमें समस्या से निकालने के बजाय समस्याओं में उलझा देती है। ये सभी समस्याएं केवल इस कारण उत्पन्न होती हैं, क्योंकि ब्रैडले ने किसी पूर्ण अवधारणा के साथ निरपेक्ष का तादात्म्य स्थापित नहीं किया है। जबकि शंकराचार्य सत् एवं आत्म की ऐक्यता उद्घोषित करके यह प्रदर्शित करने में सफल रहे हैं कि सत् आत्म या अव्यवहित अनुभूति के समान है। उन्होंने उक्त किसी जटिलता में उलझे बिना ही आत्म को अनुभूति का आकार एवं विषय-वस्तु के रूप में प्रस्तुत करने में सफलता अर्जित किया है।

द्वितीयतः, ब्रैडले ने निरपेक्ष को आत्मव्याघात से परे स्वीकार करते हुए आत्मनिर्भर कहा, किन्तु वे इसके वास्तविक स्वरूप के सन्दर्भ में कोई निश्चायक साक्ष्य प्रदान नहीं करते हैं। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि कोई वस्तु उष्ण एवं शीतल दोनों है या फिर स्वादिष्ट एवं स्वादहीन दोनों है, तो हम आत्मव्याघात अथवा वदतोव्याघात दोष से ग्रस्त होंगे, क्योंकि उष्ण एवं शीतल या स्वादिष्ट एवं स्वादहीन दोनों ही गुण एक साथ कभी भी एक ही स्थान एवं समय में अस्तित्ववान नहीं हो सकते हैं। यद्यपि केवल यह कहना कि इसमें कोई व्याघात नहीं है, निरपेक्ष के पूर्ण स्वरूप को व्यक्त नहीं कर सकता है। इस रूप में यह स्वीकार करना कि 'सत् आत्मव्याघात से परे है' प्रतिपन्न नहीं करता है कि इसमें निश्चित पूर्णत्व भाव निहित होता है।

तृतीयतः, ब्रैडले ने निरपेक्ष को सुसंगत पूर्णता कहा है जिसमें सभी आभास रूपांतरित होकर विलीन हो जाते हैं। वे इसे संभव करने वाली शक्ति को अव्यवहित अनुभूति या अतिसंबंधमूलक अनुभूति की संज्ञा देते हैं। हालांकि सूक्ष्मतापूर्वक विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि ब्रैडले अपने विमर्श के अंत में अपनी बात पर कायम नहीं रहते हैं। हेगेल की मान्यता है कि निरपेक्ष वह विशुद्ध विचार है जिसमें भावना एवं संकल्प निहित नहीं होता है, इसीलिए वह अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *Philosophy of Right* में उद्घोषित करता है कि "जो बौद्धिक है वह सत् है एवं जो सत् है वह बौद्धिक है" (What is rational is real; what is real is rational.)।[4] ब्रैडले, हेगेल के इस मत का खण्डन करते हैं और उनका मानना है कि सत् में प्रत्येक चीज को

शामिल होना चाहिए, क्योंकि वे निरपेक्ष से पृथक नहीं हो सकते हैं चाहें वह शरीर के सुख एवं दुःख हो या फिर आत्मा की उमंग एवं व्यथा। ब्रैडले प्रारम्भ में अपनी पुस्तक *Appearance and Reality* में उद्धृत करते हैं कि "यह (सत्) एक सम्पूर्ण अनुभूति होगा, जिसमें सभी तत्वों का सामंजस्य होगा। वहाँ विचार एक उच्च प्रतिभान के रूप में उपस्थित होगा, जहाँ आभास सत् में परिणत हो गया था और इस संपूर्ण सिद्धि में सौन्दर्य, आनन्द एवं भावना जीवित रहेंगी। आवेगों की प्रत्येक लौ, पवित्र या कामुक, अभी भी अदमनीय एवं अबाधित निरपेक्ष में अपने परमानंद के सामंजस्य में लीन एक स्वर में प्रज्वलित रहेंगी" (It would be experience entire, containing all elements in harmony. Thought would be present as a higher intuition: will would be there where the ideal had become reality; and beauty and pleasure and feeling would be live on in this total fulfilment. Every flame of passion, chaste or carnal, would be still burn in the Absolute unquenched and unabridged, a note absorbed in the harmony of its higher bliss.)।[5] परन्तु कालांतर में, ब्रैडले इस संबंध में लिखते हैं कि "सत् वस्तुओं का योग नहीं है। यह वह अखण्डता है जिसमें समस्त वस्तुएं एक साथ आकर रूपांतरित हो जाती हैं" (Reality is not the sum of things. It is the unity in which all things, coming together, are transmuted.)।[6] प्रत्युत ब्रैडले सभी आभासों को निरपेक्ष में समाविष्ट करता है, किन्तु वह यह समझाने में असमर्थ प्रतीत होता है कि वे सभी इसमें कैसे अस्तित्ववान हैं।

इस प्रकार यह कहना कि 'आभास सत् में विद्यमान है' का तात्पर्य यह है कि उनका सत् के साथ आन्तरिक रूप से सम्बन्ध होता है अर्थात् सत् में स्वयं ही आंतरिक सम्बन्ध होते हैं। ब्रैडले की उक्त मान्यता उसे भारतीय दर्शन के विशिष्टाद्वैत वेदांत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज के समान बना देगी, क्योंकि रामानुजाचार्य का मानना है कि हालांकि निरपेक्ष समस्त आंतरिक एवं बाह्य सम्बन्ध से परे है, किन्तु उसमें अंग-अंगी सम्बन्ध निहित है। चूंकि निरपेक्ष या ब्रह्म से पृथक जीव एवं जगत का कोई अस्तित्व नहीं है, इसलिए जीव एवं जगत ब्रह्म के शरीर मात्र हैं। परन्तु जैसा की हम जानते हैं कि आरम्भ में ब्रैडले स्वीकार करते हैं कि निरपेक्ष असंबंधमूलक है, इसी कारण से निरपेक्ष को संबंधमूलक कहना, तार्किक व्याघात के दोष से ग्रस्त होगा। इस रूप में यह कथन कि निरपेक्ष में आंतरिक सम्बन्ध होते हैं तथा साथ ही यह कथन कि वह स्वयं संबंधमूलक है, इस कथन के ही समान है कि कुछ 'है' एवं 'नहीं है' दोनों है। अतएव, उपर्युक्त विचार से निरपेक्ष केवल एक संबंधमूलक सत्ता सिद्ध होगा और इसे ब्रैडले के भाँति असंबंधमूलक कहने में जटिलता का सामना करना पड़ेगा।

यद्यपि शंकराचार्य के विचारों में ऐसी जटिलता नहीं दिखलाई पड़ती है, क्योंकि वे ब्रह्म को एक विशुद्ध सत्ता अर्थात् अपरोक्षानुभूति के रूप में स्वीकार करते हैं। वे ब्रह्म को विशुद्ध सत्ता कहकर उसे सभी प्रकार के अर्थात् अंतः, बाह्य एवं अंगांगी संबंधों से परे सिद्ध कर देते हैं। इस कारण शंकराचार्य ने ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता माना है- **"एकोब्रह्म द्वितीयोनास्ति"**। उनका मत है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है, वह अद्वितीय है- **"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"**[7]। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म किसी भी प्रकार के भेदों अर्थात्

सजातीय (अंतः), विजातीय (बाह्य) एवं स्वगत आदि से अछूता है और इसीलिए शंकराचार्य अंततः ब्रह्म को संबंधातीत एक विशुद्ध सत्ता के रूप में निरूपित करने में सफल हुए हैं। वास्तव में, ब्रैडले ने निरपेक्ष को असंबंधमूलक सर्वसमावेशी सत्ता मानकर अनजाने में एक ही साथ एवं एक ही समय में दो दृष्टिकोणों को स्वीकार किया है। जहाँ एक ओर वह निरपेक्ष को मूर्त सामान्य मानता है जिसमें सभी आभास निहित होते हैं, तो वहीं दूसरी ओर वह निरपेक्ष को एक असंबंधमूलक अनुभूति स्वीकार करता है जिसे वह अव्यवहित अनुभूति की संज्ञा देता है। पूर्ववर्ती विचार निरपेक्ष को एक विषय में परिवर्तित कर देता है, जबकि उत्तरवर्ती विचार निरपेक्ष को शंकराचार्य की भांति आत्म की अवधारणा से संयुक्त कर देता है। यद्यपि ब्रैडले ने कभी भी आत्म का तादात्म्य अव्यवहित अनुभूति से स्थापित नहीं किया है। परन्तु समकालीन भारतीय दार्शनिक प्रो० ए०सी० मुकर्जी ने ब्रैडले द्वारा प्रतिपादित अव्यवहित अनुभूति की अवधारणा को शंकराचार्य द्वारा स्वीकृत आत्म की अवधारणा के साथ संयुक्त माना है और यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि कुछ सीमा तक दोनों ही विचार समान हैं। इसी कारण उन्होंने अपनी पुस्तक *The Nature of Self* में सुस्पष्ट करते हुए लिखा कि "अंततः, ब्रैडले का विवरण जिसे वे अव्यवहित अनुभूति कहते हैं, वह अद्वैत वेदांत के आत्म सिद्धान्त के अत्यधिक निकट दृष्टिकोण है। संबंधमूलक आत्म को विसंगतियों के समूह के रूप में घोषित करते हुए और इसका समर्थन करते हुए कि आत्म के पक्ष में एवं अनात्म के पक्ष में तत्वों का मुख्य समूह विनिमेय है, ब्रैडले अपनी पुस्तक *Appearance and Reality* में अन्यत्र ही विचार करते हैं कि अव्यवहित अनुभूति परम समस्याओं के समाधान का एक मार्ग प्रशस्त करती है। यह अव्यवहित अनुभूति 'एक अव्यवहित भावना, कुछ जानना एवं एक में अस्तित्ववान होना' है; और यह माना जाता है कि 'सम्पूर्ण संबंधमूलक चेतना' को 'एक प्रत्यक्ष अभिज्ञता के अंदर पहुँचने के रूप में अनुभूत किया जाता है' जो कि 'स्वयं में असंबंधमूलक' है। इसे न तो समझाया जा सकता है न ही वर्णित किया जा सकता है, क्योंकि 'वर्णन का तात्पर्य अनिवार्यतः वस्तुनिष्ठ पदों एवं संबंधों में अनुवाद' है" (Bradley's account of what he calls immediate experience is a very near approach to the Advaita theory of self. While condemning the relational self as a mere bundle of discrepancies, and urging that the main bulk of the elements on the side of the self and on the side of the not-self is interchangeable, in his *Appearance and Reality*, Bradley thinks else where that immediate experience opens the one road to the solution of ultimate problems. This immediate experience is 'an immediate feeling, a knowing and being in one'; and the 'entire relational consciousness', it is supposed, 'is experienced as falling within a direct awareness' which is 'itself non-relational'. It can neither be explained nor described, because 'description necessarily means translation into objective terms and relations'.)।[8]

इसके अतिरिक्त, जब ब्रैडले निरपेक्ष को एक सुसंगत सत्ता के रूप में विवेचित करता है, तो हम यह पाते हैं कि उसके दर्शन में ऐसे दो बिंदु निहित हैं जो उसे हेगेल की स्थिति से भिन्न करते हैं। पहला, उसका

मानना है कि निरपेक्ष में विचार, भावना एवं संकल्प विलीन हो जाते हैं, ताकि निरपेक्ष की अखंडता व्याप्त रहे। दूसरा, ब्रैडले का तर्क है कि निरपेक्ष में विभाजन उपस्थित होते हैं, क्योंकि विभाजन के अभाव में सुसंगतता निरर्थक हो जाएगी। ब्रैडले के शब्दों में, "हम जिसका अन्वेषण करते हैं वह एक पूर्ण सत्ता है जिसमें भेद की जा सकते हैं, परंतु उसने स्वयं विभाजन अथवा भेद अस्तित्ववान नहीं होते हैं" (what we discover rather is a whole in which distinctions can be made, but in which, divisions do not exist.)।[9] यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि विचलन इतना अधिक सुस्पष्ट है कि उसे नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिए। यदि विचार निरपेक्ष में विलीन हो जाता है, तो भेद किस प्रकार से उपस्थित रह जाते हैं? मात्र भावना ही हमें निरपेक्ष की उपस्थिति का बोध कराने में सहायता प्रदान कर सकती है, अर्थात् यह हम पूर्ण सत्ता के बारे में जागरूक करती है, किंतु उसमें विद्यमान भेदों को उजागर नहीं करती है। यदि ऐसा है, तो ब्रैडले का मत कि निरपेक्ष के विभाजनातीत होते हुए भी स्वयं उसमें भेद उपस्थित रहते हैं, असंगत है। जब तक विचाररूपी यंत्र को निरपेक्ष पर प्रयुक्त नहीं किया जाता, तब तक इसकी विषय-वस्तु को कैसे जाना जाता था? क्योंकि विचार ही भेद कर सकता है और इसीलिए विचार को पृथक करने का तात्पर्य है कि निरपेक्ष में विभाजन की संभावना को समाप्त कर देना। वास्तव में, ब्रैडले इस जटिलता को नजरअंदाज कर देते हैं और इस रूप में उनकी निरपेक्ष की अवधारणा में एक स्पष्ट व्याघात परिलक्षित होता है, किंतु हेगेल निरपेक्ष का विचार के साथ तादात्म्य स्थापित करके एक सीमा तक उपरोक्त जटिलता से बच जाते हैं। प्रत्युत, यदि शंकराचार्य एवं ब्रैडले के दार्शनिक विचारों पर विशेष रूप से निरपेक्ष के स्वरूप को लेकर गहनतापूर्वक विमर्श किया जाए, तो उनके विचारों के मध्य कुछ महत्वपूर्ण अंतर परिलक्षित होते हैं जो कि निम्नवत हैं-

1. शंकराचार्य अपने सिद्धांत को विशुद्ध रूप से अनुभूति पर आधृत करते हैं, लेकिन ब्रैडले ऐसा नहीं करता। शंकराचार्य का निरपेक्ष किसी प्रत्यक्ष अनुभूति पर आश्रित नहीं है और वह पूर्णतः एक आदर्श अवधारणा है। शंकराचार्य इस पर जोर देते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान श्रुति पर आश्रित है और मानव जीवन का परम लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार है जो कि इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है। परंतु ब्रैडले ऐसा विचार नहीं करते हैं कि परम लक्ष्य निरपेक्ष के ज्ञान की प्राप्ति है, क्योंकि उनके अनुसार किसी मानव को ऐसा ज्ञान प्राप्त होना असंभव है। ब्रैडले स्वयं उद्धृत करते हैं कि "निरपेक्ष एक ऐसी सत्ता है जिसका हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान (No direct knowledge) नहीं होता"।[10] ब्रैडले निरपेक्ष विषयक ज्ञान को किसी प्रामाणिक स्रोत जैसे- श्रुति आदि पर भी निर्भर नहीं स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि निरपेक्ष का ज्ञान एक पवित्र आशा है जिसके संदर्भ में केवल बुद्धि द्वारा अनुमान किया जा सकता है, यह साक्षात्कार का विषय नहीं है। ध्यातव्य हो कि ब्रैडले ने विचार को निरपेक्ष के लिए अनुपयुक्त शब्दों एवं संबंधों की मशीनरी में चलायमान माना है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति का निरपेक्ष के बारे में केवल सामान्य विचार हो सकता है, किंतु उसकी वास्तविक स्वरूप का पूर्ण ज्ञान कभी नहीं हो सकता है।
2. शंकराचार्य के ही समान ब्रैडले भी निरपेक्ष को जानने की प्रक्रिया में निहित गतिशीलता को स्वीकार करता है। ब्रैडले उद्घोषित करता है कि "हमें होना चाहिए, और तब हमारा अस्तित्व नहीं होना चाहिए" (We

should have to be, and then *we* should not exist.)।[11] परंतु बाद की अवस्था अर्थात् अ-अस्तित्व के सन्दर्भ में उनके द्वारा कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है। शंकराचार्य के दर्शन में निरपेक्ष का साक्षात्कार असुगम्य नहीं है। वे उपनिषदों की भांति तर्क देते हैं कि ब्रह्म ही हमारा अस्तित्व है जिसका हमारे द्वारा मात्र साक्षात्कार किया जाना ही शेष है। छान्दोग्य उपनिषद में उद्दालक ने श्वेतकेतु को निर्देशित करते हुए जीव (आत्म) एवं ब्रह्म (निरपेक्ष) के तादात्म्य की पुष्टि करते हुए कहा है कि **"तत्त्वमसि"**[12] अर्थात् वह ब्रह्म तुम ही हो। जीव का शाश्वत रूप से निरपेक्ष के साथ ऐक्य है, किंतु उसकी आंखों में अज्ञानतारूपी बादल इस प्रकार छा जाते हैं कि वह स्वयं की वास्तविक प्रकृति को विस्मृत करके स्वयं का स्थूल मन एवं शरीर के साथ तादात्म्य स्वीकार करने लगता है। जैसे ही जीव इस अज्ञानता के आवरण को दूर करते हुए इस भ्रमात्मक तादात्म्य को अस्वीकार करता है, वैसे ही उसका निरपेक्ष के साथ वास्तविक तादात्म्य हो जाता है। एक बार जब जीव अपनी मूल परमानंद अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो उसका साक्षात्कार चिरकाल तक अनवरत जारी रहता है लेकिन इस साक्षात्कार के होने से मन-शरीर युक्त जीव का विनाश नहीं होता है। आत्मानुभूति में रमण करने वाला जीव का शरीर से अलगाव तब तक नहीं होता, जब तक की उसके अतीत के कर्म अर्थात् प्रारब्ध कर्म क्षय नहीं हो जाते। इस कारण ही आत्मानुभूति या आत्म-साक्षात्कार के बावजूद भी जीव का शरीर विद्यमान रहता है, ताकि वह व्यावहारिक स्तर पर अपने कर्तव्यों का निर्वहन कर सके। यद्यपि जीव इसके साथ ही अपने मूल स्वरूप एवं इस तादात्म्यता के मिथ्यात्व के प्रति अनवरत चैतन्य रहता है।

इसके साथ ही ब्रैडले की स्थिति शंकराचार्य से भिन्न है, क्योंकि वह यह नहीं कहता कि (प्रथमदृष्टया) हमारा शाश्वत रूप से निरपेक्ष के साथ ऐक्य है। ब्रैडले स्वयं *Appearance and Reality* में लिखते हैं कि "जो असंभव है वह है कि जीवन में निरपेक्ष को उसकी व्यापकता में गढ़ना, उस विशिष्ट अनुभूति को प्राप्त करना जिसमें वह अस्तित्ववान है। परंतु इसकी प्रमुख विशेषताओं के बारे में किसी विचार को प्राप्त करना- एक ऐसा विचार जहाँ तक यह सत्य है, यद्यपि अमूर्त एवं अपूर्ण – एक पृथक प्रयत्न है। और, जहाँ तक मैं सोचता हूँ यह एक कार्य है, जिसमें हम सफल हो सकते हैं। क्योंकि कुछ सीमा तक ये विशेषताएं हमारे अपनी अनुभूति में निहित हैं; और पुनः अमूर्त में उनके संयोजन की धारणा अत्यंत बोधगम्य है। और निश्चितरूपेण निरपेक्ष के ज्ञान की इससे अधिक की कोई चाह नहीं है। यह एक ऐसा ज्ञान है जो निःसंदेह तथ्य से अत्यंत भिन्न है। लेकिन इन सभी के अतिरिक्त यह सत्य है कि जब तक यह स्वयं की सीमाओं की प्रतिष्ठा अटल रखता है, तब तक यह सीमित बुद्धि द्वारा पूर्णतः प्राप्य प्रतीत होता है" (What is impossible is to construct absolute life in its detail, to have the specific experience in which consists. But to gain an idea of it's main features- an idea true so far as I see, in which we may succeed. For these main features, to some extent, are within our own experience; and again the idea of their combination is, in the abstract, quite intelligible. And surely no more than this is wanted for a knowledge

of the absolute. It is a knowledge which of course differs enormously from the fact. But it is true, for all that, while it respects its own limits; and it seems fully attainable by the finite intellect.)।[13] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ब्रैडले के लिए निरपेक्ष मात्र एक तार्किक अभिधारणा है और यह मानवीय अनुभूति का वास्तविक एवं महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है। हमें इसका मात्र आंशिक ज्ञान हो सकता है, लेकिन कभी भी पूर्णतः ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। इसीलिए हम यह पाते हैं कि यद्यपि ब्रैडले कहता है कि साक्षात्कार के पश्चात् हमारा अस्तित्व नहीं होना चाहिए, फिर भी अ-अस्तित्व को उतनी ही बौद्धिकता से विवेचित किया गया है जितना कि निरपेक्ष को। दूसरे शब्दों में, ब्रैडले का मत है कि यदि हमें निरपेक्ष का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, तो हमारा अस्तित्व नहीं होना चाहिए। परंतु हम केवल निरपेक्ष को अंशों में जान सकते हैं और निरपेक्ष को अंशों में जानने का आशय मात्र आभास को जानना है। इस कारण यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त विवेचन हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि हमें निरपेक्ष का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता है और यदि हमें उसका ज्ञान नहीं हो सकता है, तो अ-अस्तित्व का प्रश्न संभव नहीं है अर्थात् निरर्थक है।

3. ब्रैडले का तर्क है कि निरपेक्ष को अव्यवहित अनुभूति द्वारा ही जाना जा सकता है अर्थात् निरपेक्ष मात्रा अविवाहित अनुभूति का विषय है। परंतु उसके द्वारा वर्णित अव्यवहित अनुभूति हमें निरपेक्ष का पूर्ण बोध नहीं प्रदान करती है। इसके साथ ही ब्रैडले ने कभी भी भावना एवं अव्यवहित अनुभूति में कोई स्पष्ट अंतर की चर्चा नहीं की है। इसीलिए वे भावना से निरपेक्ष के ज्ञान को निगमित करने की बात करते हैं, जहाँ निरपेक्ष एवं भावना स्वयं में असंबंधमूलक हैं। हालांकि यह स्पष्ट नहीं है कि वे इस व्युत्पत्ति तक कैसे पहुंचे, क्योंकि पूर्व में ब्रैडले कहते हैं कि भावना एक निम्न-बौद्धिक सत्ता (Infra-rational Unity) है जो कि अव्यवहित अनुभूति के विकास की ही प्रथम अवस्था है। प्रत्युत, निम्न-बौद्धिक सत्ता किस प्रकार से अति-बौद्धिक सत्ता (Supra-rational Unity) अर्थात् निरपेक्ष का बोध प्रदान कर सकती है? इसके अतिरिक्त ब्रैडले का यह मत कि 'हम कभी भी जीवन में निरपेक्ष को उसकी व्यापकता में नहीं प्राप्त कर सकते' निःसंदेह उसके अन्य कथन कि 'हमारे पास निरपेक्ष संबंधी पूर्ण विचार है' से व्याघाती है।[14] सामान्यतः पूर्ण ज्ञान का तात्पर्य किसी वस्तु का तथ्य के रूप में अस्तित्ववान होना है, किंतु जब हम यह पता करने का प्रयास करते हैं कि ब्रैडले की निरपेक्ष की अवधारणा से किस प्रकार का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, तो यह प्राप्त होता है कि निरपेक्ष कभी भी हमारी अनुभूति में तथ्य रूप में विद्यमान नहीं होता है। पुनश्च, यदि हम निरपेक्ष को एक पूर्ण विचार के रूप में स्वीकार करते हैं, तो यह प्राप्त होता है कि ब्रैडले के निरपेक्ष की अवधारणा से ऐसा कोई विचार गठित नहीं किया जा सकता है। यद्यपि पूर्ण विचार सदैव विसंगति एवं अस्पष्टता का निरसन करता है, फिर भी ब्रैडले यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता है कि विचार में सुसंगतता एवं स्पष्टता का अभाव होता है। इस रूप में उन्होंने मात्र 'किसी तरह' (Somehow) से सत् के साथ आभास का सामंजस्य स्थापित किया है। परंतु यह 'किसी तरह' अत्यंत सुंदरता से अनिश्चित रह जाता है और पूर्णतः स्पष्ट नहीं करता कि यह सामंजस्य किस प्रकार से स्थापित किया गया है। इस प्रकार उक्त विमर्श से स्पष्ट

होता है कि हमें ब्रैडले की निरपेक्ष संबंधी अवधारणा से कोई विशिष्ट या पूर्ण विचार प्राप्त नहीं हो सकता है, अपितु मात्र सामान्य विचार ही प्राप्त हो सकता है। इसके साथ ही यह अवधारणा तर्कसंगत भी नहीं है। यद्यपि ब्रैडले ने निरपेक्ष की अवधारणा को अनिवार्य माना है, फिर भी यह प्रतीत होता है कि उनका यह दावा सुसंगत तार्किकता के विपरीत स्वयं को सही सिद्ध करने में विफल रहा है।

4. शंकराचार्य के ही भाँति ब्रैडले ने भी निरपेक्ष विषयक ज्ञान हेतु विचार को असक्षम स्वीकार किया है, लेकिन शंकराचार्य के विपरीत ब्रैडले विचार को सत् में समाविष्ट मानता है। यह अंतर विचार के स्वरूप के संदर्भ में उनके दृष्टिकोण में भिन्नता के कारण परिलक्षित होता है। यद्यपि ब्रैडले का तर्क है कि सत् को विचार से नहीं जाना जा सकता, किंतु विचार स्वभावतः विमर्शात्मक होता है इसलिए यह संबंधमूलक है और यह 'क्या' अर्थात् विषय-वस्तु को 'वह' अर्थात् अस्तित्व से पृथक करता है। इस कारण से सत् जो कि असंबंधमूलक है वह विचार से परे है। असंबंधमूलक सत् को विचार द्वारा जानने के लिए हमें अन्य वस्तुओं के साथ इसके संबंध के माध्यम से संशोधित किसी अवधारणा की आवश्यकता होगी जो कि व्याघातपूर्ण एवं दोषग्रस्त होगा। ब्रैडले का मत है कि सत् व्याघात से पूर्ण स्वतंत्र होता है चूंकि यह आत्मनिर्भर सत्ता है, इसीलिए वे कहते हैं कि विचार कभी सत् को नहीं जान सकता। यद्यपि ब्रैडले का यह विचार उचित प्रतीत नहीं होता है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि सत् के लक्षण के रूप में सुसंगतता की स्वीकृति ही सत् को विचार में परिवर्तित कर सकती है। डॉ० आर०के० त्रिपाठी अपनी कृति *The Concept of Māyā* में लिखते हैं कि "कोई ब्रैडले से पूछें कि यदि विचार आत्मव्याघाती है, तो यह इसकी पुष्टि कैसे करता है कि सुसंगतता सत् का स्वभाव है?.....ब्रैडले चेतना के सभी कार्यों को विचार तक सीमित करता प्रतीत होता है। ब्रैडले स्वीकार करता है कि विचार के अतिरिक्त संकल्प एवं भावना जैसे अन्य कार्य भी हैं, लेकिन वे यह देखने में विफल रह जाते हैं कि सत् के निकष के रूप में सुसंगतता की स्वीकृति संपूर्ण सत् को विचार में घटित कर देती है, क्योंकि सुसंगतता मात्र विचार में प्राप्त की जा सकती है" (One may ask Bradley: if thought is self-contradictory, how does it follow that consistency is the mark of reality?..... Bradley seems to reduce all functions of consciousness to thought. Bradley does admit that there are other functions such as willing and feeling besides thought, but he fails to see that the acceptance of consistency as the criterion of Reality reduces all reality to thought, because consistency can be found only in thought.)।[15]

अब पुनः एक प्रश्न सार्थक होता है कि क्या सत् को हम कभी भी नहीं जान सकते? ब्रैडले प्रत्युत्तर में कहते हैं कि सत् को जानने हेतु विचार से परे जाना होगा और अंतःप्रज्ञा अथवा प्रतिभान के उच्च स्तर तक की यात्रा करनी होगी। यह उच्च स्तर एक अतिसंबंधमूलक अवस्था है, जहाँ विषयी-विषय में एवं ज्ञाता-ज्ञेय में कोई भेद नहीं रहता है। इसके साथ ही विचार जो केवल विषय एवं वस्तु के मध्य संबंध को ही स्वीकार करता है, वह यहाँ आकर आत्महत्या करने को विवश हो जाता है। इस रूप में ब्रैडले सीमित एवं असीमित के मध्य

संबंध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। शंकराचार्य स्पष्ट करते हैं कि विचार के द्वारा निरपेक्ष को जानने का प्रयास निरपेक्ष को सीमित कर देना है। इसीलिए विचार सदैव स्वयं में सत् के स्वरूप को जानने में असक्षम रहता है, बल्कि यह उचित प्रक्रिया अर्थात् प्रतिभान की प्रक्रिया को इंगित करके परम-साक्षात्कार को प्राप्त करने में सहायक हो सकता है। यह प्रयोग एवं त्रुटि का मार्ग है क्योंकि विचार स्वयं अपनी कमियों को दर्शाता है जिससे हम प्रतिभान के मार्ग को आत्मसात करने को प्रवृत्त होते हैं। शंकराचार्य सदैव बौद्धिक अभिवृत्ति का रुख करते हैं, जबकि ब्रैडले कभी-कभी इससे बचने का प्रयत्न करते हैं। शंकराचार्य तार्किकता के प्रति अन्त तक समर्पित रहे, किन्तु ब्रैडले ने ऐसा नहीं किया क्योंकि जब वह पाता है कि तर्कतः आभास को सत् के साथ संयुक्त करना जटिल है, तो वह तार्किकता को त्यागकर कहता है कि आभास 'किसी तरह' सत् से संबंधित है। यह कहना कि विचार सत् को नहीं जान सकता और इसे संशोधित रूप से स्वीकार करना उसी अतार्किक प्रक्रिया का प्रतिलोम है। यहाँ समस्या है कि ब्रैडले किस आधार पर सत् के ज्ञान हेतु विचार की क्षमता पर प्रश्न करता है, जबकि वह निरपेक्ष में भेदों के अस्तित्व को स्वीकार करता है? इस संबंध में तथ्य यह है कि जब ब्रैडले सत् के ज्ञान की प्रक्रिया में विचार की क्षमता का निषेध करता है, तो वास्तव में यह एक असमर्थनीय एवं अपुष्ट अवधारणा है; इसके विपरीत शंकराचार्य की निषेध पद्धति अत्यधिक गहन एवं विश्वसनीय है।

इसके अतिरिक्त, ब्रैडले ने निरंतर परिवर्तनशील जगत एवं सत् के मध्य संबंध को समझाने के लिए सभी निरपेक्षवादी दार्शनिकों की समस्या को उजागर करने का प्रयास किया है। सभी निरपेक्षवादियों का मानना है कि सत् एक, अनंत, शाश्वत, अपरिवर्तनीय है जो सभी परिवर्तनों के बावजूद अडिग रहता है वह निरपेक्ष है। परंतु समस्या यह है कि वे जिस जगत में रहते हैं उसका निषेध नहीं कर सकते। जगत परिवर्तनीय है और इसीलिए उन्हें अपरिवर्तनीय निरपेक्ष एवं परिवर्तनीय जगत में सामंजस्य को स्थापित करना होगा। वे सभी मानते हैं कि परिवर्तनशील जगत को वस्तुतः सत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब यह निरपेक्ष की सत्ता के लिए चुनौती होगी जिसे वे केवल और केवल एक स्वीकार करते हैं। इस समस्या से निजात पाने के लिए इन दार्शनिकों द्वारा अनेक प्रयत्न किए गए हैं और अनगिनत स्पष्टीकरण दिए गए हैं यथा- अद्वैत वेदांती, विशिष्टाद्वैतवादी आदि। अद्वैत वेदांतियों ने केवल निरपेक्ष को ही एकमात्र सत् कहा है और जगत को निरपेक्ष का आभास कहा है, लेकिन जगत न तो सत् है न ही असत् है अपितु मिथ्या है। यह एक आभास मात्र है जिसका आरोपण हम शाश्वत, अपरिवर्तनीय, अद्वैत ब्रह्म पर करते हैं जो समस्त गुण-विभाजन से परे है, विशुद्ध चैतन्य है, जबकि हम अविद्याजन्य हैं। अविद्या किसी भी तरह ब्रह्म को प्रभावित नहीं करती है और इसलिए इस पर आरोपित आभास मूलतः इससे संबंधित नहीं है। यद्यपि अपने अस्तित्व के लिए यह ब्रह्म पर आश्रित है। ब्रह्म एवं जगत दो भिन्न स्तरों पर हैं जिसमें हम अविद्या का आवरण त्यागकर ब्रह्म की ओर एकीकृत होने को प्रवृत्त होते हैं।

कुछ विचारकों ने निरपेक्ष एवं जगत दोनों को वास्तविक माना है यथा- विशिष्टद्वैती आचार्य रामानुज का मत है कि जगत एवं जीव स्वयं शाश्वत हैं और निरपेक्ष के शरीर को आकार देते हैं। इसी कारण से वे अद्वैत ब्रह्म के स्वरूप को चुनौती दिए बिना, उतने ही सत्य का दावा करते हैं जितना कि निरपेक्ष के संबंध में दावा

किया जाता है। शैव परंपरा के अनुयायियों ने जगत को निरपेक्ष के साथ-साथ सत् भी माना है। वे अद्वैत वेदांतियों की भांति निरपेक्ष को निष्क्रिय नहीं मानते हैं। उनका तर्क है कि यदि शिव अर्थात् निरपेक्ष शक्ति अर्थात् शिवा से युक्त नहीं है, तो वह शव के समान है, इसीलिए यह न केवल अतिचैतन्य है अपितु आत्म-चैतन्य भी है। वे स्वीकार करते हैं कि शिव के पास संकल्प शक्ति है और इसी संकल्प शक्ति से संपूर्ण जगत की रचना होती है। इसी कारण से जगत भी उतना ही सत् है जितना कि निरपेक्ष अर्थात् शिव, किंतु यह शिव की स्वाचेतना अर्थात् अहं की अभिव्यक्ति मात्र है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निरपेक्षवादियों ने जगत का या तो मिथ्या कहकर निषेध किया है या फिर पूर्णतः सत् के रूप में कल्पित किया है। यद्यपि ब्रैडले के संदर्भ में कहा जा सकता है कि उन्होंने जिस स्थिति को माना है वह उपर्युक्त दोनों से संबंधित है, किंतु दोनों से उसका ऐक्य नहीं है। वह जगत की वस्तुओं को आभास कहता है, क्योंकि उनकी प्रकृति आत्मव्याघाती है। उनके अनुसार ऐसी अवास्तविकता आंशिक है, किंतु सर्वोच्च सत् या निरपेक्ष का आभास होने के कारण अंशतः सत् भी है। वह मानता है कि आभास अपने परिवर्तित रूप में निरपेक्ष में विद्यमान रहता है। परंतु यहां वह स्पष्टरूपेण एक जटिलता को नजरअंदाज कर देते हैं। यदि आभास मात्र परिवर्तित रूप में निरपेक्ष में व्याप्त है, तो जब वह परिवर्तित नहीं होते तब उनके अस्तित्व का साधन क्या होता है? क्या उस समय वे निरपेक्ष से पृथक अस्तित्ववान थे? ऐसी स्थिति में उनकी वास्तविकता दोहरी होगी और यदि ऐसा नहीं है, तो वे इससे कैसे संबंधित हैं? ब्रैडले इस समस्या से अनभिज्ञ नहीं थे, किंतु वे इसका कोई संतोषप्रद एवं सटीक समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। बल्कि वे संबंध को निर्दिष्ट किए बिना यह कहकर इसे नजरअंदाज करने का प्रयास करते हैं कि आभास मात्र 'किसी तरह' से निरपेक्ष से संबंधित है। ऐसी स्थिति निःसंदेह उनके निरपेक्षवाद को संदिग्ध कर देती है जिससे कि अन्य निरपेक्षवादी दार्शनिक बहुत ही चतुरता से बच जाते हैं। इस कारण अब आवश्यकता है कि हम शंकराचार्य एवं ब्रैडले के विशेष संदर्भ में सत् और आभास अथवा जगत संबंधी अवधारणा का विश्लेषण एवं मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयास करें।

शंकराचार्य एवं ब्रैडले के दर्शन में सत् एवं आभास की विवेचना -

सामान्यतः शंकराचार्य एवं ब्रैडले के दर्शन में निरपेक्ष की अवधारणा के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि भले ही दोनों दार्शनिकों ने निरपेक्ष को सर्वोच्च सत् स्वीकार किया है, किंतु ब्रैडले का निरपेक्ष संबंधी मत तर्क की कसौटी को पूर्णतः संतुष्ट नहीं करता है। इसके साथ ही दोनों दार्शनिकों के दर्शन के मध्य मूलभूत अंतर निरपेक्ष एवं आभास के मध्य संबंध के उनके समाधानों में निहित है।

शंकराचार्य ने यह माना है कि परिवर्तन जगत की मूल संवृत्ति है और जो कुछ भी परिवर्तनशील है वह अवश्य ही असत् होगा। इस रूप में वे समस्त जगत को अध्यास अथवा मिथ्या कहकर निषेधित करते हैं जिसमें सत् का एक भी अंश निहित नहीं होता है, लेकिन वे जगत को आकाशकुसुम या शशश्रृंग के समान असत् नहीं कहते हैं। मिथ्या का अर्थ यह भी नहीं है कि इसमें आंशिक सत् निहित है, शंकराचार्य ने इसे 'अनिर्वचनीय' की संज्ञा दी है। ब्रैडले को ऐसा स्वीकार करने में जटिलता प्रतीत होती है, क्योंकि उन्हें लगता है कि आभास को

निरपेक्ष सत्ता का आभास होने के कारण पूर्णतः मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। अतएव वे अपने 'सत् के अंशों या सत्यांशों का सिद्धान्त' (Theory of Degree of Reality) को प्रतिपादित करते हैं और आभास को सत्यांश कहकर संबोधित करते हैं। उनके अनुसार जो आभास है वह सीमित, अपूर्ण, संबंधमूलक है, लेकिन उसे मिथ्या कहना अनुचित है। यहाँ तक कि वे कहते हैं कि मिथ्यात्व भी निम्न कोटि का आभास मात्र है। इसीलिए ब्रैडले की मान्यता है कि प्रत्येक आभास में सत् के एक अंश के साथ ही साथ असत् का भी एक अंश निहित होता है। उनका कहना है कि मात्र निरपेक्ष ही पूर्ण सत्य है जो कि कोटियों की परमावस्था है जहाँ कोई असत् नहीं पहुंच सकता है।

अब मिथ्यात्व के निकष संबंधी मूल्यांकन के पश्चात यदि शंकराचार्य के निरपेक्ष एवं आभास संबंधी विचारों की बात की जाए, तो वे केवल ब्रह्म की एकमात्र सत्ता मानते हैं इसके अलावा अन्य कोई सत्ता अस्तित्ववान नहीं हो सकती। हम अपनी अविद्या के कारण ब्रह्म को ही जगत समझने की भूल कर देते हैं अर्थात् हम जगत को ब्रह्म के ऊपर आरोपित कर देते हैं। जगत की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है यह पूर्णतः ब्रह्म पर आश्रित है, किंतु यह संबंध परस्पराश्रित नहीं है। ध्यातव्य हो कि ब्रैडले ने ब्रह्म एवं जगत के मध्य परस्पर संबंध को माना है। आभास अथवा जगत पूर्णतः निरपेक्ष अथवा ब्रह्म पर आश्रित है, क्योंकि वह निरपेक्ष का आभास है और इस तरह उसकी एक आंशिक सत्ता होती है। इसी तरह निरपेक्ष भी आभास पर निर्भर है, क्योंकि किसी एक आभास से रहित होने पर वह अपना अर्थ खो देता है। आभास अपने परिवर्तित रूप में निरपेक्ष में स्थान प्राप्त करता है और आभास को निरपेक्ष की महत्वपूर्ण पूंजी के रूप में माना जाता है। इसी कारण से यह संबंध किसी भी रूप में एकतरफा नहीं है और आभास एवं सत् अपने अस्तित्व के लिए परस्पर आश्रित हैं। जबकि शंकराचार्य के अनुसार जगत अथवा आभास ब्रह्म पर निर्भर है, फिर भी ब्रह्म जगत से किसी भी प्रकार से प्रभावित नहीं होता है। जगत अपने अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर पूर्णतः आश्रित है किंतु इसके विपरीत स्थिति नहीं है, यह एकतरफा संबंध है। जगत ब्रह्म के बिना प्रकट नहीं हो सकता और जैसे ही ब्रह्म विषयक ज्ञान होता है वैसे ही जगत का लोप हो जाता है। यहां प्रश्न उठता है कि जिस व्यक्ति को ज्ञान हो गया है अर्थात् मुक्त पुरुष अथवा जीवन-मुक्त को जगत कैसा दिखता है? यदि जगत उसे भी वैसा ही प्रतीत होता है जैसे कि सामान्य मनुष्य को होता है, तो मुक्त पुरुष एवं सामान्य मनुष्य में क्या अंतर है जो अभी भी अज्ञान के आवरण से आच्छादित है? शंकराचार्य का कहना है कि ज्ञान होने पर भी जगत का लोप नहीं होता है। आत्म-साक्षात्कारी आत्मा प्रारब्ध कर्म को पूर्ण करने के व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए आनुभविक स्तर पर जगत की सत्ता से अवगत होती है, लेकिन साथ ही वह इसके आध्यात्मिक अथवा पारमार्थिक मिथ्यात्व से भी अवगत होती है। जिसे **बाधितानुवृत्ति ज्ञान** कहकर संबोधित किया जाता है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपनी *श्रीमद्भगवद्गीता गूढार्थदीपिका टीका* में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा कि "**यद्वद्येन प्रकारेण निर्विकारत्वेन तद्वत्तेनैव निर्विकारत्वप्रकारेण यं स्थितप्रज्ञं निर्विकारमेव सन्तं कामा अज्ञैर्लोकैः काम्यमानाः शब्दायाः सर्वे विषया अवर्जनीयतया प्रारब्धकर्मवशात्प्रविशन्ति न तु विकर्तुं शक्नुवन्ति स महासमुद्रस्थानीयः स्थितप्रज्ञः शान्तिं सर्वलौकिकालौकिककर्मविक्षेपनिवृत्तिं**

बाधितानुवृत्यावि‌द्याकार्यनिवृत्तिं चाऽऽप्रोति ज्ञानबलेन"।[16] अर्थात् जिस प्रकार से निर्विकार समुद्र स्थित रहता है उसी प्रकार से निर्विकाररूप से जिस निर्विकार स्थितप्रज्ञ में समस्त काम, अज्ञानी लोग जिनकी कामना करते हैं वे शब्दादि संपूर्ण विषय अवर्जनीयता के कारण, प्रारब्ध कर्मवश अनिवार्य होने के कारण प्रवेश करते हैं; किंतु वे उसके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते। वह महासमुद्र स्थानीय स्थितप्रज्ञ अपने ज्ञान के बल से शांति एवं समस्त लौकिक तथा अलौकिक कर्मों से उत्पन्न विक्षेप की निवृत्ति और बाधितानुवृत्ति से समस्त अविद्याजन्य कार्य से निवृत्ति पाता है। इसके अलावा एक सामान्य मनुष्य अविद्या या अज्ञान के कारण जगत को सत् स्वीकार करता है, जबकि जीवन मुक्त पुरुष को अपने व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु जगत को सत् के समान व्यवहार करते समय भी प्रत्येक क्षण यह बोध रहता है कि यह मिथ्या है। प्रत्युत आनुभविक दृष्टि से सदैव जीवन मुक्त एवं अज्ञानजन्य सामान्य मनुष्य के मध्य अंतर किया जाता है।

शंकराचार्य के अनुसार जगत को असत् कदापि नहीं कहा जा सकता है। हालांकि डॉ० राधाकृष्णन ने इसके विपरीत दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए टिप्पणी किया कि "शंकराचार्य के अनुसार जगत असत् है"।[17] परंतु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि शंकराचार्य ने बार-बार यह कहा है कि जगत न तो सत् है ना ही असत् है बल्कि मिथ्या है। जगत को असत् कहना बंध्यापुत्र के समान ही अ-अस्तित्वपरक है, लेकिन जगत रज्जु में सर्प के भ्रम के ही समान मिथ्या है। यह कोई आधारहीन भ्रम नहीं है, अपितु ब्रह्म स्वयं इसका पूर्ण आधार है। इस रूप में इसका असत् कहकर निषेध नहीं किया जा सकता है और जगत मिथ्या है, क्योंकि लौकिक ज्ञान का परवर्ती ज्ञान द्वारा निषेध हो जाता है अर्थात मस्तिष्क में प्रथमतः यह आभासित होता है कि जगत का ज्ञान उचित है, किंतु जब ब्रह्म विषयक ज्ञान प्राप्त होता है तब इसके मिथ्यात्व का भी बोध हो जाता है। जब हम किसी भी वस्तु को असत् कहते हैं, तो उसे किसी भी दशा में देखा या अनुभव नहीं किया जा सकता है। किसी वस्तु के विषय में हमारी धारणा तभी संभव है जब वह अस्तित्व में हो और यह विचार करना स्वयं में अतार्किक है कि कभी कोई बोलता हुआ पत्थर अस्तित्ववान हो सकता है। इसी कारण से शंकराचार्य कहते हैं कि **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"**[18] अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव एवं ब्रह्म एक ही हैं।

इसके अतिरिक्त ब्रैडले का मत है कि जगत का आभास अन्य कुछ नहीं, अपितु निरपेक्ष का अन्य रूप है। आभास एवं सत् के संदर्भ में ब्रैडले विचित्र दृष्टिकोण अपनाते हैं और इसी कारण वह शंकराचार्य से काफी भिन्न है। ब्रैडले की स्पष्ट धारणा है कि निरपेक्ष और आभास का संबंध अन्योन्याश्रित है। यदि ब्रैडले के अनुसार आभास निरपेक्ष की पूंजी है, तो शंकराचार्य के लिए आभास ब्रह्म का आवरण मात्र है। इस रूप में निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म आभासातीत है अर्थात ब्रह्म की पारलौकिक सत्ता है, ब्रैडले के अनुसार सत् पारलौकिक नहीं है, अपितु सर्वव्यापी है। ब्रैडले का मानना है कि जो कुछ भी आभास के रूप में अस्वीकार कर दिया जाता है उसे कहीं ना कहीं सत् में अवश्य घटित होना चाहिए। इस रूप में जगत उसी प्रकार सत् है जैसे कि अन्य वस्तुएं हो सकती हैं, किंतु परम लक्ष्य के संदर्भ में सत् नहीं है। ब्रैडले के अनुसार प्रत्येक आभास निरपेक्ष की पूर्णता हेतु अति महत्वपूर्ण है और इसी अर्थ में वे आभास को निरपेक्ष की

पूंजी कहते हैं। उनकी मान्यता है कि किसी आभास का अभाव होने पर निरपेक्ष गुणहीन हो जाता है, किंतु वह परिवर्तित रूप में निरपेक्ष में निहित रहता है। कोई प्रश्न कर सकता है कि क्या किसी आभास के लिए निरपेक्ष में अपना पृथक अस्तित्व बनाए रखना संभव है? ब्रैडले कटक है कि सीमित आभास निरपेक्ष में अपनी सीमितता को त्याग देता है, लेकिन सीमितता के त्याग का अर्थ यह है कि अनंत अर्थात परमार्थ एवं परिमित अर्थात संवृत्ति के मध्य सभी अंतर विलीन हो जाते हैं। पुनश्च, जब कोई आभास सीमित नहीं रह जाता, तो फिर उसे आभास नहीं कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में ब्रैडले के निरपेक्ष को परिवर्तित रूप में सभी सीमित आभासों की अखंडता या एकता के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता है।

शंकराचार्य एवं ब्रैडले के दृष्टिकोणों में अन्य महत्वपूर्ण अंतर यह है कि जहाँ ब्रैडले मानता है कि निरपेक्ष आभासों का संघात है या आभास निरपेक्ष में ही निहित हैं, तो वहीं दूसरी ओर शंकराचार्य ऐसा दृष्टिकोण नहीं रखते हैं। शंकराचार्य का तर्क है कि आभास सत् की पूंजी नहीं है और इसीलिए वे उसमें अस्तित्ववान नहीं हैं। यद्यपि आभास प्रकट नहीं हो सकते, किंतु निरपेक्ष उनका आधार होते हुए भी उनसे प्रभावित नहीं होता है। ऐसा जगत जिसकी मात्र आनुभविक सत्ता है वह निरपेक्ष में निहित नहीं हो सकता है जो कि स्वयं परमसत् है। दोनों दो पृथक-पृथक स्तर पर हैं। उच्चतर को प्राप्त करने हेतु निम्नतर को सीमा पार करना होगा। परंतु ब्रैडले के दर्शन में दोनों सत्ताओं को एक ही स्तर पर विद्यमान माना गया है और इसीलिए निरपेक्ष के ज्ञान हेतु हमें आभास की सीमा से परे जाने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि हमें उनके परिवर्तित रूपों को संश्लेषित करना चाहिए। अद्वैत वेदांत में सत्य का साक्षात्कार करने का मार्ग ऊर्ध्वगामी है, जबकि ब्रैडले के दर्शन में सर्वव्यापी एवं सर्वसमावेशी पर जोर देते हुए यह सतही या क्षैतिज स्तर पर परिलक्षित होता है।

निष्कर्ष –

प्रस्तुत शोध-पत्र में उपर्युक्त विश्लेषण के उपरांत यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदांती आचार्य शंकर एवं पाश्चात्य समकालीन दार्शनिक एफ०एच० ब्रैडले के सत् या निरपेक्ष संबंधी धारणाओं में विभिन्न वैषम्यताओं के निहित होने के बावजूद भी निश्चितरूपेण उनमे कुछ सीमा तक वैचारिक साम्यता अवश्य परिलक्षित होती हैं, क्योंकि वे दोनों ही दार्शनिक सत् या ब्रह्म के अभिव्यक्तिकरण में भिन्न-भिन्न विचार के पोषक हो सकते हैं, परंतु उनके दार्शनिक दृष्टिकोण की अंतः मौलिकता एक ही समान है। जहाँ एक तरफ ब्रैडले पाश्चात्य दार्शनिक परंपरा के हिमायती होने के कारण बुद्धि, भावना एवं संकल्प के महत्व को स्वीकार करते हैं और साथ ही परमार्थ को अंतः प्रज्ञात्मक अनुभूति का विषय मानते हैं, इसीलिए ब्रैडले को ज्ञानमीमांसीय एवं तत्वमीमांसीय दृष्टि से प्रतिप्रज्ञावादी दार्शनिक की संज्ञा दी जाती है। वहीं दूसरी ओर, शंकराचार्य के भारतीय आध्यात्मिक परंपरा से पोषित होने के कारण उनके विचारों का मूल वेद, पुराण, उपनिषद एवं श्रीमद्भगवद्गीता आदि से पूर्णतः प्रभावित है। यही कारण है कि शंकराचार्य एवं ब्रैडले अपनी पृथक-पृथक संस्कृतियों, सभ्यताओं एवं विचारधाराओं के प्रभाव में अपने दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शंकराचार्य का ब्रह्म तथा ब्रैडले का निरपेक्ष सत् के ऐक्य भाव का ही प्रतिरूप है, भले ही शंकराचार्य एवं ब्रैडले दोनों ने अपने-अपने परमसत् का अभिधान पृथक-पृथक ढंग से किया है अर्थात् दोनों दार्शनिक एक ही सत्य

की बात करते हैं, लेकिन दोनों का मार्ग भिन्न-भिन्न है। हालांकि शंकराचार्य एवं ब्रैडले दोनों ने एक ही परमसत् के अद्वैत निरपेक्ष भाव का ही वर्णन किया है, चाहे उनके दर्शन में जगत-जीव संबंधी अवधारणा भिन्न-भिन्न हो या फिर निरपेक्ष अथवा ब्रह्म को अभिव्यक्त करने का तरीका भिन्न-भिन्न हो, किन्तु भाव परस्पर एक समान ही प्रतीत होते हैं। प्रत्युत कहा जा सकता है कि शंकराचार्य एवं ब्रैडले के सत् संबंधी विचारों के परिप्रेक्ष्य में *ऋग्वेद* का यह श्लोक सर्वथा प्रासंगिक है कि **"एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति"**[19] अर्थात सत् या ब्रह्म एक ही है भले ही विप्रजन उसका वर्णन विविध रूपों में करते हैं।

संदर्भ -

[1] Srivastava, S.N.L. (1968). *Sámkara and Bradley: A Comparative and Critical Study*. Delhi: Motilal Banarasidas Publishers, p. 3.

[2] Bradley, F.H. (1916). *Appearance and Reality*. Six Edition, London: George Allen & Unwin Ltd., p. 556.

[3] Ibid., p. 160.

[4] Hegel, G.W.F. (2001). *Philosophy of Right.* S.W. Dyde (Trans.), Canada: Batoche Books limited, p. 18.

[5] Bradley, F.H. (1916). *Appearance and Reality*. op.cit., p. 172.

[6] Ibid., pp. 487-488.

[7] छान्दोग्य उपनिषद, 6/2/1.

[8] Mukerji, A.C. (1943). *The Nature of Self.* Second Edition, Allahabad: The Indian Press Ltd., pp. 253-254.

[9] Bradley, F.H. (1916). *Appearance and Reality*. op.cit., p. 146.

[10] Ibid., p. 468.

[11] Ibid., p. 159.

[12] छान्दोग्य उपनिषद, 6/9/3.

[13] Bradley, F.H. (1916). *Appearance and Reality*. op.cit., p. 159.

[14] Ibid., p. 530.

[15] Tripathi, R.K. (1966). *The Concept of Māyā*. in Indian Philosophical Annual, Vol.2, Madras, p. 190.

[16] सरस्वती, मधुसूदन (2005). *श्रीमद्भगवद्गीता गूढ़ार्थदीपिका.* भाग 1 (अनुवादक मदन मोहन अग्रवाल). दिल्ली: चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, पृ० 191.

[17] Radhakrishnan, S. (1927). *Indian Philosophy*. Vol. 2, op.cit., p. 583.

[18] ब्रह्मज्ञानावलीमाला, 20.

[19] ऋग्वेद, 1/164/46।